अध्याय-४

ईश्वरीय व्यवस्था का विवेचन

ईश्वरीय तथा मानवीय व्यवस्था के स्तर में अत्याधिक अन्तर है जो कर्मफल व्यवस्था ईश्वरीय नहीं कही जा सकती वह ही मानवीय श्रेणी में रखी जा सकती है। ईश्वरीय कर्मफल व्यवस्था के निर्धारण के लिए कसौटियाँ हैं जो हमने ईश्वरीय व्यवस्था के चार मूल सिद्धान्तों के रूप में कही हैं-

१. **जीव को कर्मफल जाति, आयु और भोग के रूप में मिलता है।**

२. **जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है।**

३. **परमात्मा सर्वशक्तिमान् होने से जीवों को कर्मफल प्रदान करने हेतु किसी की सहायता नहीं लेता।**

४. **जीवों को कर्मफल परमात्मा जीवों के कर्मानुसार ही देता है न कम न अधिक। तथा जीव द्वारा किये गये सभी शुभ या अशुभ कर्मों का फल मात्र उसे ही मिलता है अन्य किसी जीव को नहीं।**

अतः जो भी सुख, दुःख या कर्मफल ऊपर की चार कसौटियों पर पूरा नहीं उतरेगा उसे ईश्वरीय व्यवस्था में नहीं कहा जा सकता।

प्रश्नः— आप जीव की स्वतन्त्रता का राग अलाप रहे हैं परन्तु हम अपने जीवन में देखते हैं कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है उस पर कई प्रकार के बन्धन लगाए हुए हैं।

उत्तरः— परमात्मा की व्यवस्था में तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र ही है, परन्तु उस पर बन्धन या तो मानवीय व्यवस्था में है या जीव के सामर्थ्य के कारण है। पुरुष पर बन्धन मानवीय व्यवस्था में लगाए जाते हैं क्योंकि मानव समाज को सुचारू रूप से चलाना होता है। अगर हर मनुष्य को हर कर्म करने का अधिकार दे दिया जाए तो समाज उच्छृखल हो जाएगा तथा कोई भी सामाजिक व्यवस्था टिकी नहीं रह सकती। मानव समाज को सुचारू रूप से चलाने हेतु मनुष्यों पर नियंत्रण तथा बन्धनों का होना अनिवार्य है। इनमें से कुछ बन्धनों का कारण सामाजिक सर्वहितकारी नियम होते है और कुछ बन्धन

प्रत्येक मनुष्य के अपने लिए हितकारी होते हैं। जो सामाजिक सर्वहितकारी नियमों का पालन नहीं करता उसे सामाजिक नियमों के आधीन दण्ड मिलता है; और जो स्वयं के लिए हितकारी नियमों का पालन नहीं करता उसे स्वयं सुख या दुःख उठाना पड़ता है तथा कई अवस्थाओं में सामाजिक दण्ड भी भोगना पड़ता है। जैसे एक व्यक्ति चोरी करता है तो पकड़ा जाने पर सामाजिक व्यवस्था में उसे कारागार में डाल दिया जाता है तथा दण्ड भोगना पड़ता है। और जो व्यक्ति अपनी किसी वस्तु को नष्ट करता है उसे उस वस्तु से ही हाथ धोना पड़ता है परन्तु सामाजिक व्यवस्था में दण्ड नहीं मिलता। इसी प्रकार जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य की हत्या कर दे तो सामाजिक व्यवस्था में उसे प्राणदण्ड तक मिल सकता है और अगर आत्महत्या का प्रयास करे तो उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा, और यदि आत्महत्या का प्रयास असफल रहा तो मानवीय व्यवस्था में आत्महत्या के प्रयास का दण्ड भी मिल सकता है। महर्षि दयानन्द ने भी आर्यसमाज के दसवें नियम के रूप में लिखा है "सभी मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।" कितना मौलिक सिद्धान्त है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु सभी को सामाजिक नियमों का पालन करना चाहिए परन्तु अगर स्वयं से संबंधित नियम हो तो सब स्वतन्त्र रहें। हम देखते हैं कि इस प्रकार स्वतन्त्रता पर जो बन्धन है वह मानवीय व्यवस्था में है न कि ईश्वरीय व्यवस्था में। ईश्वरीय व्यवस्था में हम सब स्वतन्त्र हैं, ईश्वर किसी को किसी बन्धन में नहीं डालता। न वह किसी कर्म को करने से किसी जीव को रोकता है, वह तो मात्र अच्छे या बुरे कर्म की चेतावनी मात्र उसके चित्त में देता है उससे अधिक कुछ नहीं। उस कर्म को करने के बाद जीव ईश्वरीय व्यवस्था में फल भोगने हेतु परतन्त्र रहता है, उससे कभी भी बचा नहीं जा सकता।

जीव की स्वतन्त्रता पर दूसरा बन्धन जीव का अपना सामर्थ्य है। जीव का स्वाभाविक सामर्थ्य वह है जो उसके गुण है उसके कर्मों की सीमा है। महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं-"परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप पुण्य कर्मों का फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्यादि अच्छे बुरे कर्म हैं।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तम-समुल्लास) जीव परमात्मा के कर्मों में अपना सहयोग नहीं कर सकता परन्तु अपने कर्मों को करने में स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक जीव मानव

योनि में आकर अपना जितना सामर्थ्य ज्ञान प्राप्ति के द्वारा बढ़ाता जाता है, वह उतने ही अधिक कर्म अधिक स्वतन्त्रता से कर सकता है। हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जिसने चिकित्सा क्षेत्र में अपना ज्ञानार्जन किया है वह चिकित्सा कार्य स्वतन्त्रता से कर सकता है, एक व्यक्ति जिसने शिल्प विद्या में ज्ञानार्जन किया है वह शिल्पादि कार्य अधिक स्वतन्त्रता से कर सकता है। एक व्यक्ति जिसने गान विद्या में ज्ञानार्जन किया है वह गान कार्य अधिक स्वतन्त्रता से कर सकता है। हर व्यक्ति जो किसी क्षेत्र में ज्ञान अर्जित करता है वह अपने क्षेत्र के कार्य दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सुविधा से कर सकता है। जो व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में ज्ञान अर्जित नहीं करते या नहीं कर पाते, वे अपनी जीविका हेतु उन कार्यों को करते हैं जिसमें विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती जैसे मज़दूरी करना आदि। हर व्यक्ति को हर कार्य करने की स्वतन्त्रता समाज प्रदान नहीं कर सकता। वह व्यक्ति जिसने चिकित्सा में ज्ञानार्जन न किया हो उसे चिकित्सा कार्य करने की छूट देना समाज के लिए घातक होगा। इसलिए समाज में बन्धन है परन्तु वह बन्धन सामाजिक हितों को देखते हुए हैं। एक चिकित्सक के ऊपर चिकित्सा कार्य करने पर बन्धन नहीं है परन्तु अन्यों पर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव पर एक तो वे सामाजिक बन्धन हैं जिस समाज में वह रहता है दूसरे उसकी अपनी ज्ञान की सीमा है जो उसकी स्वतन्त्रता में बाधक है। वास्तव में ये सभी बन्धन, बन्धन न होकर उसे बुरे कर्मों से रोकने हेतु हैं। जो मनुष्य इन बन्धनों को स्वीकार नहीं करता और अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है, वह दण्ड का भागी बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जीव ईश्वरीय व्यवस्था करने में स्वतन्त्र है और मानवीय व्यवस्था में उस पर, उसकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध हैं। वह बन्ध ान उचित या अनुचित दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

प्रश्नः— बन्धन तो आप भी मानते हैं तो जीव पूरी तरह स्वतन्त्र कहाँ हुआ ?

उत्तरः— आप जंगल में जाकर रहे और मानवीय समाज को छोड़ दें तो आप पर कोई बन्धन नहीं हैं। आप अपनी स्वतन्त्रता से दूसरों की स्वतन्त्रता का हनन करना चाहे तो कोई भी सामाजिक या मानवीय व्यवस्था इसको स्वीकार नहीं करेगी। जिस तरह आप कर्म करने में स्वतन्त्र है उसी तरह दूसरा

भी तो स्वतन्त्र है। जब कभी आपकी स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक बनती है, तभी आप पर बन्धन है अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए आप सड़क पर अपनी इच्छा अनुसार चलने के लिए स्वतन्त्र हैं परन्तु आपकी स्वतन्त्रता दूसरों के आने-जाने की स्वतन्त्रता में अगर बाधक बन जाए तो आप पर बन्धन हैं ताकि आप का वाहन दूसरे वाहनों के लिए रुकावट या हानि का कारण न बन जाए।

एक विद्यार्थी परीक्षा में बैठा है वह परीक्षा भवन में प्रश्न पत्र के प्रश्नों के उत्तर एक सीमित समय में अपने पूर्व अर्जित ज्ञान के अनुसार देने में स्वतन्त्र हैं। परन्तु उसे परीक्षा भवन में किसी पुस्तक से सहायता लेने की स्वतन्त्रता नहीं है। वहाँ उस पर बन्धन है। स्वतन्त्रता का अर्थ अनाधिकार चेष्ठा कदापि नहीं है। स्वतन्त्रता मानवीय विकास हेतु है, जो कोई भी उस स्वतन्त्रता का उल्लंघन करता है वह दण्ड का अधिकारी होता है। मानवीय स्वतन्त्रता पर बन्धन मानवीय समाज के द्वारा ही लगाए जाते हैं न कि ईश्वरीय व्यवस्था में। ईश्वर तो मात्र अच्छे बुरे की चेतावनी देता है-अच्छे कर्म होने पर उत्साह, प्रसन्नता आदि और यदि कर्म बुरा हो तो भय, शंका, लज्जा आदि के रूप मे जीव के अन्तःकरण में देता है। उसके बाद जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता है, चाहे तो करे या न करे। अगर जीव कर्म बुरा करता हो तो भी ईश्वर उसका हाथ नहीं पकड़ता। परन्तु कर्म हो चुकने के बाद ईश्वरीय व्यवस्था में जीव कर्मफल भोगने हेतु परतन्त्र है। इस विषय में मीमांसा दर्शन का प्रमाण है। जैमिनि मुनि लिखते हैं —

प्रयोग पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात्। मीमांसा० ६.२.३॥

कर्त्तव्यकर्म करने में जीवात्मा की कर्त्ता होने में श्रुति पाए जाने से कर्मों के करने में पुरुष यथाकामी-अर्थात् इच्छानुसार कर्म करने वाला होने से स्वतन्त्र है। इस प्रकार मीमांसाकार भी जीव को स्वतन्त्र मानते हैं।

प्रश्नः— जीवात्मा को कर्मानुसार मनुष्यादि योनियाँ मिलती हैं और उन्हीं कर्मों के अनुसार आयु और भोग भी मिलते हैं, और जीव उसी के अनुसार कर्म करता है। प्रारब्ध कर्म जीव की स्वतन्त्रता में बाधक है क्योंकि जीव को अपने पूर्व कर्मों का फल तो भोगना ही होगा। अतः कर्म स्वतन्त्रता मिथ्या है।

उत्तरः— जिन कर्मों के अनुसार हमें मनुष्य आदि योनि मिलती हैं वे

कर्म आगे के होने वाले कर्मों में बाधक नहीं बन सकते और न ही उस मनुष्यादि योनि में मिलने वाले भोग तथा आयु पूर्वनिश्चित होते हैं। (इस का आगे विवेचन किया गया है) अतः मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र ही रहता है। यदि प्रारब्ध कर्म इतने प्रबल हों कि उनके भोग के कारण अन्य कर्म हो ही न सके तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हो सकता। परन्तु शास्त्रकार इस मान्यता से सहमत नहीं हैं, यथा मीमांसादर्शनकार महर्षि जैमिनि लिखते हैंः—

प्रक्रमात्तु नियम्येताऽऽसम्भवस्य क्रियानिमित्तत्वात्॥ ६.२.१३॥

अर्थात् मनुष्य को प्रारब्ध कर्म परतन्त्र नहीं बनाते क्योंकि वे केवल भोग देने के हेतु होते हैं, क्रियमाण कर्मों के न तो हेतु होते और न ही कर्म करने में व्यापक होते हैं। यदि प्रारब्ध कर्म ही अच्छे-बुरे क्रियमाण कर्मों के हेतु हों तो उत्तम प्रारब्ध कर्मों वाले सदा अच्छे ही बने रहे और निकृष्ट प्रारब्ध कर्मों वाले हमेशा निकृष्ट। किन्तु ऐसी मान्यता लोक व शास्त्र दोनों से विरुद्ध है क्योंकि उत्तम व्यक्ति निकृष्ट हो जाते हैं और निकृष्ट व्यक्ति उत्तम हो जाते हैं, यह लोक में प्रत्यक्ष देखने में आता है, और यह कर्म स्वतन्त्रता के कारण ही होता है।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात् कर्तुस्तत्कारणं स्यात्॥
मीमांसा० ६.२.१५॥

जीवों को भोग प्रारब्ध कर्मों के अनुसार मिलता है। परन्तु जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। ऐसा नियम अर्थात् व्यवस्था है। क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोगने के निमित्त हो सकते हैं। अतः प्रारब्ध कर्मों का भोग क्रियमाण कर्मों में बाधक नहीं होता।

उदाहरण के रूप में मनुष्य को भूख लगी, वह भूख को फल खाकर कर भी शान्त कर सकता है, रूखी-सूखी रोटी खाकर भी या पकवान आदि खाकर भी। इस प्रकार जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र ही रहता है।

हम देखते हैं कि जीव को कर्मफल जाति, आयु और भोग के रूप में मिलता है। जाति अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियाँ हैं जो एक बार मिल जाए तो उस जन्म के लिए निश्चित है; परन्तु आयु और भोग जीव को मात्र पिछले जन्म के कर्मों के आधार पर ही नहीं मिलते हैं। जीव वर्त्तमान जन्म के कर्मों के द्वारा भी अपने वर्त्तमान जन्म की आयु और भोगों को कम या अधिक

कर सकता है। योगसूत्र २.१३ की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास बहुत स्पष्ट हैं; और **"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः"** (योग०२।१२) में तो महर्षि पतञ्जलि स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि कर्माशय दृष्ट अर्थात् वर्त्तमान जन्म और अदृष्ट अर्थात् भावी जन्म में फल देने वाला होता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। हमारे कर्मों का लेखा जोखा एक बैंक खाते की तरह है। जिस तरह एक व्यक्ति बैंक में जाकर खाता खोलता है उसमें पैसा जमा करवाता है। उस जमा पैसे का उपयोग वह अपने हिसाब से कर सकता है। वह चाहे तो अपनी आवश्यकता के अनुसार नकद पैदा निकलवा ले, या किसी अन्य को भुगतान करने हेतु एक चैक काट दे या किसी अन्य कार्य के लिए माँग-पत्र (डिमान्ड ड्राफ्ट) बनवा ले। जितने पैसे वह निकलवा लेगा या जिनके लिए वह चैक काट देगा या माँग-पत्र बनवा लेगा उतना पैसा कम हो जाएगा और शेष पैसे का उपयोग वह आगे कर सकेगा। इसी तरह खाते में पैसा जमा भी कई माध्यमों से हो सकता है। उस व्यक्ति के निवास स्थान को बदल लेने पर भी उसके खाते या खाते के शेष में कोई अन्तर नहीं आता है।

इस उदाहरण को हम जीव के कर्माशय पर घटा सकते हैं। जीव का कर्माशय जो उसके साथ जन्म-जन्मान्तरों से चला आता है, वह बिल्कुल बैंक खाते की तरह है। जैसे मानव के लिए मकान बदलने पर उसके बैंक खाते पर प्रभाव नहीं होता वैसे ही जीव के लिए यह शरीर भी एक घर है और इसके बदलने से जीव के कर्माशय पर प्रभाव नहीं होता उसे अपने कर्मों को तो भोगना ही होगा। उस कर्माशय के आधार पर उसे जाति, आयु और भोग मिलते हैं। आयु और भोग, जाति के बाद ही मिल सकते हैं इसलिए पहले जन्म मिल जाता है और जिन कर्मों पर आधार होकर जन्म (जाति) मिलता है उतने कर्मों का फल वहाँ मिल जाता है और शेष कर्मों का फल आगे मिलेगा। अब जाति मिलने के बाद आयु और भोग आते हैं। परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार जीव जितना भोग प्राप्त कर लेता और जीवनकाल रूप आयु को भोग लेता है, उतने कर्माशय का भोग माना जाएगा शेष फिर आगे मिलेगा। उस कर्माशय में वर्त्तमान जन्म में किए अच्छे-बुरे कर्म भी जुड़ते जाते हैं। उस वर्त्तमान जन्म में जुड़े कर्मों में से, जिनका फल आयु या भोगों के रूप में भोग लिया जाता है वह भी कम हो जाएगें शेष कर्म कर्माशय में संचित हो जाएगें और आगे फल देने

वाले होंगे। आयु क्योंकि पूर्व निश्चित नहीं है तो जितनी आयु जीव भोग लेता है उतनी भुक्त आयु के आधार पर जीव के कर्माशय का भोग माना जाएगा, शेष अभुक्त रहेगा। एक बैंक खाते और कर्माशय में सबसे बड़ा अन्तर है कि बैंक खाते में नामे और जमा की प्रविष्ठियाँ मिलकर ही खाते का शेष निकालती हैं; परन्तु कर्माशय में पुण्य और पाप मिलकर शेष नहीं निकालते वरन् पुण्य कर्माशय और पाप कर्माशय को अलग-अलग भोगना पड़ता है। यह नहीं हो सकता कि पचास पुण्य कर्म मिलकर पचास कर्मों को या कम या अधिक पाप कर्मों को रद्द कर दे। बल्कि पुण्य कर्माशय का पृथक फल होगा और पाप कर्माशय का पृथक।

प्रश्नः— **"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"** सूत्र को आप कर्मफल मीमांसा का मूल आधार बताते हैं। इसको विस्तारपूर्वक समझाए।

उत्तरः— इस सूत्र के व्यास भाष्य का अनुवाद "कर्मफल सिद्धान्त" अध्याय-२ में दिया है। महर्षि व्यास इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कर्माशय अविद्या आदि पाँच क्लेशों के रहने पर फल देने वाला होता है। अगर यह पाँच क्लेश नष्ट हो जाए तो कर्माशय फल देना प्रारम्भ ही नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए जैसे चावल के वह दाने, जो भूसी से ढके हैं और जो जले हुए नहीं है, बोएं जाने पर उगने में समर्थ रहते हैं परन्तु जिनकी भूसी उतर गई है और जो जल गए हैं, उन्हें कितनी भी खाद या पानी मिल जाए उग नहीं सकते। इसी प्रकार अविद्या आदि क्लेशों से ग्रस्त कर्माशय फल को प्राप्त कराने वाला होता है। परन्तु जिस योगी ने विवेक ख्याति से क्लेशों का नष्ट कर दिया है, उसका कर्माशय फल प्राप्त कराने वाला नहीं हो पाता।

अविद्या आदि पाँच क्लेश सारे अपुण्य की जड़ है। यह क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या "क्लेश" अध्याय-११ में विस्तारपूर्वक की गई है।

कर्माशय से सर्वप्रथम जन्म मिलता है अर्थात् जाति मिलती है। इसके लिए चार अवधारणाएँ ली गईं हैं :—

१. एक कर्म से एक जन्म;
२. एक कर्म से अनेक जन्म;
३. अनेक कर्मों से अनेक जन्म; तथा

४. अनेक कर्मों से एक जन्म।

पहली तीन अवधारणाओं का खण्डन करते हुए महर्षि व्यास ने चतुर्थ अवधारणा की पुष्टि की है। पहली अवधारणा के अनुसार अगर एक कर्म को एक जन्म का आधार मान लिया जाए तो अनादि काल से अभुक्त कर्मों के फलों का कोई क्रम नहीं हो पाएगा। वर्त्तमान में किये जाने वाले पुण्य कर्म का फल का अवसर कब आएगा इसमें सन्देह होने पर जीवों में असन्तोष व्याप्त होगा, और पुण्य कर्मों के प्रति अरुचि होगी, जो कि अनिष्ट कारक है।

दूसरी अवधारणा के अनुसार एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता क्योंकि जब एक कर्म से एक जन्म मानने पर अनिष्ट की कल्पना की गई है तो एक कर्म से अनेक जन्म मानने पर तो महा अनिष्ट होगा। तब तो पिछले किए अन्य कर्मों के फल न जाने कब पूरे हों ?

तीसरी अवधारणा के अनुसार अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण नहीं हो सकते क्योंकि अनेक जन्म एक साथ सम्भव नहीं। अगर ऐसा माना जाए कि पचास कर्म मिलकर पचास जन्मों को देंगे तो भी पहली अवधारणा के अनुसार दोष आएगा कि एक कर्म एक जन्म। और यदि पचास कर्मों से पचास से अधिक जन्म माने जाए तो भी इस अवधारणा को उचित नहीं माना जा सकता।

चतुर्थ अवधारणा कि अनेक कर्म मिलकर एक जन्म को प्रदान करने वाले होते हैं, उचित है, ऐसा महर्षि व्यास मानते हैं। मानव के जन्म और मृत्यु के बीच में जो पुण्य और अपुण्य अर्थात् धर्म और अधर्म रूपी विचित्र कर्माशय का संग्रह किया जाता है वह सब कर्म या तो मुख्य रूप में होते या फिर प्रबल न होने से दबे हुए से होते हैं। जब कर्म प्रबल हो तो प्रधान कर्म कहलाते हैं। जब दबे हुए हों तो गौण कर्म कहलाते हैं। अब कौन से कर्म प्रधान हैं या कौन से गौण इसकी अभिव्यक्ति मृत्यु के प्रकार से होती है और वह सारा प्रधान अथवा गौण भाव से स्थित कर्माशय जीव को फल देने हेतु मृत्यु के पश्चात् क्रियाशील होकर एक जन्म को प्राप्त कराता है। मानव की मृत्यु का प्रकार महत्त्वपूर्ण है इसलिए जब श्रीकृष्ण को शिक्षा देते हुए उनके गुरु ने उपदेश किया कि जब मनुष्य का अंतिम समय हो तब उसे तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए —

१. **त्वं भक्षितमसि** (हे ईश्वर आप अक्षित हैं)
२. **त्वं अच्युतमसि** (हे ईश्वर आप अविनश्वर हैं)

३. **त्वं प्राणसंशतमसि** (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं)

इस उपदेश को सुन श्रीकृष्ण अपिपास हो गए अर्थात् उन्हें किसी अन्य उपदेश की तृष्णा नहीं रही। अंतिम समय के उपदेश को ही श्रीकृष्ण ने काफी समझा। क्योंकि श्री कृष्ण को पता था कि अंतिम समय में ईश्वर को वहीं याद कर सकता है जो सारा जीवन याद करता रहा है। जिसने सारे जीवन जैसे कर्म किए होंगे वह मृत्यु के समय उन्हीं कर्मों में व्यस्त होगा। क्योंकि हमें नहीं पता कि मृत्यु कब होगी, अन्तिम समय कब होगा तो उस समय ईश्वर "ओ३म्" कैसे याद करेंगे। यह तो पूरे जीवन का उपदेश है न कि अन्तिम समय का।

महर्षि व्यास भी कहते हैं कि मानव की मृत्यु के प्रकार से प्रधान कर्माशय का निर्धारण किया जा सकता है और वही उसे अगला जन्म प्राप्त कराने वाला होता है। उस प्रधान कर्म समूह से प्राप्त वह जन्म उसी कर्म से लब्धायुष्कम् अर्थात् प्राप्त जीवन वाला होता है; और जन्म के जीवनकाल में उसी कर्म से सुख-दुःख आदि भोग प्राप्त होता है। अर्थात् यह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का कारण होने से तीन प्रकार के फलों को देने वाला कहलाता है।

प्रश्नः— क्या यहाँ पर व्यास भाष्य यह नहीं कह रहा कि आयु और भोग पूर्व जन्म के कर्मो पर आधारित होते हैं ?

उत्तरः— इस बात को समझने हेतु पहले पूरी सूत्र व्याख्या तो जान लीजिए। यहाँ पर पूर्व जन्म के कर्माशय से जो आयु और भोग की बात की गई हैं वह कदापि निश्चित नहीं है। मान लीजिए हमको मनुष्य या पशु पक्षी आदि योनि मिलती है तो उस योनि में सामान्यतः जीव जन्म लेते ही मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, वह जीवन काल को प्राप्त करता है। यह जीवन काल ही आयु है। उस जीवन काल को अपने कर्मों के द्वारा बढ़ाना या घटाना मनुष्य के अपने हाथ में भी है; और कई अन्य कारणों पर भी निर्भर करता है। अर्थात् प्रत्येक योनि में जो एक सामान्य जीवन काल है, वह कई कारणों पर आधारित होता है, जो सब को मिलता है। जैसे एक मनुष्य सामान्यतः सौ वर्ष का जीवन जी सकता है, वैसे एक पशु या पक्षी का भी सामान्य जीवनकाल एक दिन से कुछ वर्षों का हो सकता है, यह ही आयु है। जैसे एक सिंह का आठ-दस वर्ष, एक हाथी का २०-२५ वर्ष, एक कुत्ते का पाँच-छः वर्ष, एक मच्छर का दो-तीन सप्ताह

आदि। इसी प्रकार प्रत्येक योनि में भोग की व्यवस्था भी भिन्न-भिन्न है, जैसे गाय शाकाहारी तथा सिंह आदि माँसाहारी प्राणी हैं, और मानव की रचना शाकाहारी प्राणी के रूप में हुई है। परन्तु हम देखते है कि सब प्राणी अपनी सामान्य आयु नहीं जी पाते और मानव अपने भोगों को भी बदल लेता है। इसलिए आयु और भोग मात्र पूर्व जन्मों के कर्मों पर ही निर्भर नहीं है। अस्तु। वर्त्तमान जन्म में भी संचित कर्माशय या तो केवल एक फल अर्थात् भोग को देने वाला या दो फलों अर्थात् आयु और भोग को देने वाला होता है। हम वर्त्तमान जीवन के कर्मों से अपनी आयु और भोगों को कम या अधिक कर सकते हैं। अतः महर्षि व्यास भी मात्र पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर ही आयु और भोगों को निश्चित नहीं मानते।

यह हमारा जो चित्त है, वह अविद्यादि पाँच क्लेशों, शुभ, अशुभ कर्मों और उनके फलों के अनुभव से उत्पन्न वासनाओं द्वारा अनादिकाल से चित्रित है, जैसे मछली पकड़ने वाले जाल का ग्रन्थिबन्धन होता है वैसे ही यह वासनाओं की ग्रन्थि में बंधा हुआ है। यह वासनाएँ प्रत्येक जन्म में संचित होती रहती हैं। किन्तु यह जो कर्माशय है वह एक बार फल देकर समाप्त हो जाता है जैसे एक बीज से एक बार ही वृक्ष उत्पन्न हो सकता है उसके बाद नहीं। परन्तु जो कर्माशय का संस्कार, स्मृति का उत्पादक है, वह वासना कहलाती है तथा अनादि काल तक संचित रहती है। हम अपने जीवन काल में देखते हैं, मानव को उसके संस्कार अर्थात् वासनाएँ प्रेरित करती हैं। मानव अच्छे या बुरे कर्मों में अपने संस्कारों द्वारा प्रेरित होता रहता है। अच्छे संस्कारों वाला अच्छे कर्मों की ओर तथा बुरे संस्कारों वाला बुरे कर्मों की ओर प्रेरित होता है। परन्तु यह संस्कार या वासनाएँ बन्धन नहीं बन सकते। उस अच्छे या बुरे कर्म को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए एक चोर को उसके संस्कार अवसर मिलते ही चोरी करने के लिए प्रेरित करते हैं परन्तु चोर चोरी करने के लिए उन संस्कारों के कारण बाध्य नहीं है। वह स्वतन्त्र है कि चोरी करे या न करे। चाहे तो संस्कारों के बल पर चोरी कर ले या फिर बुद्धि द्वारा इस बुराई का निराकरण करते हुए चोरी न करे। ऐसे ही अच्छे अर्थात् शुभ कामों में भी होता है।

हमारा कर्माशय दो प्रकार के विपाक वाला है — नियत विपाक तथा अनियत विपाक वाला। नियत विपाक वाला कर्माशय वह है जिसका फल

निश्चित है तथा अनियत विपाक वाला कर्माशय वह है जिसका फल अनिश्चित है। इसी प्रकार कर्माशय का फल दो प्रकार का बताया है (योगसूत्र २.१२) — अर्थात् दृष्टजन्म वेदनीय तथा अदृष्टजन्म वेदनीय। दृष्टजन्म वेदनीय वह है जो वर्त्तमान जन्म में फलकारी होता है और अदृष्टजन्म वेदनीय भावी जन्म में फलकारी होता है। जो दृष्टजन्म वेदनीय है वह आयु या भोग या दोनों को देने वाला होता है और अदृष्टजन्म वेदनीय त्रिविपाक वाला अर्थात् जाति आयु और भोग को देने वाला होता है।

जो अदृष्टजन्म में फल देने वाला, अनियत विपाक वाला कर्माशय है उसकी तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं :-

१. किये गए कर्मों का फल प्राप्त हुए, कर्माशय का नाश हो जाना।

२. किसी प्रधान कर्म के फल में ही बीज भाव को प्राप्त होना अर्थात् प्रध ाान कर्म के साथ मिलकर फल देना स्वतंत्र रूप से नहीं। तथा

३. नियत विपाक वाले प्रधानकर्म से दबे हुए होकर कर्माशय का बहुत काल तक स्थित रहना।

इन तीनों गतियों की महर्षि व्यास ने ही व्याख्या भी की है उनके अनुसार जो प्रथम गति है कि किये हुए कर्मों का फल दिए बिना नष्ट हो जाना जैसे शुक्ल अर्थात् शुभ कर्मों के उदय होने पर कृष्ण अर्थात् अशुभ कर्मों का इसी जन्म में नाश हो जाना अर्थात् फल देने में समर्थ न रहना। अर्थात् जो पुरुष क्रिया योग अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान आदि शुभ कर्मों को करते हैं उनके अशुभ कर्म फलोन्मुख होने में असमर्थ हो जाते हैं। क्योंकि वे आगे अशुभ कर्म नहीं करते और पिछले अशुभ कर्म, शुभ कर्मों के प्रभाव से दबकर फलोन्मुख नहीं हो पाते। महर्षि व्यास कहते हैं कि दो-दो प्रकार के कर्मों को जानना चाहिए। एक शुक्ल रूप पुण्य-कर्म और कृष्ण रूप पाप कर्म। इनमें जो पाप रूप कर्मों का समूह है, उसको पुण्य करने वाले जीव का पुण्य कर्माशय नष्ट कर देता है। इसलिए हे जीवों! वर्त्तमान जन्म में ही पुण्यकर्मों को करने की इच्छा करो। ऋषि-मुनि और विद्वान् लोग तुम्हारे लिए पुण्य कर्मों को जनाते हैं। किये गए कर्मों का बिना फल दिए नष्ट हो जाने का नियम सामान्य न हो कर मोक्ष के अधिकारी के लिए है जिसके कर्म दग्धबीज भाव को प्राप्त होकर फल को प्रदान नहीं करते।

महर्षि व्यास दूसरी गति के बारे में कहते हैं कि पुण्य-कर्मों में पाप-कर्मों का मिलकर फल देना, और उसका दुःखरूप फल पुण्य करने वाले विद्वान् को सहन करने योग्य होता है अर्थात् उसके पुण्य फल से दबा हुआ होने से कम प्रतीत होता है और वह दबा हुआ पाप कर्म का फल पुण्य करने वाले विद्वान् को पुण्य से पृथक करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि पुण्य करने वाला यह सोचता है कि मेरे पुण्य रूपी दूसरे कर्म बहुत हैं जिनमें फल देने वाला पाप कर्म सुखरूप पुण्य कर्म के फल में कमी बहुत थोड़ी मात्रा में ही करेगा।

अब महर्षि व्यास तीसरी गति के बारे में कहते हैं कि कर्माशय का प्रधान कर्म के फलोन्मुख होने से चिरकाल तक बीज रूप में दबा हुआ रहना। अर्थात् बलवान्-पुण्य कर्मों के निरन्तर भोग होते रहने से फल देने का अवकाश न मिलने से पाप कर्मों का बीज रूप में पड़ा रहना या फिर बलवान् पाप कर्मों के निरन्तर भोग होते रहने से फल देने का अवकाश न मिलने से पुण्य कर्मों का बीज रूप से पड़ा रहना, प्रधान कर्मों से दबे होकर चिरकाल तक स्थित रहना है। यहाँ पर यह प्रश्न किया है कि कर्माशय चिरकालपर्यन्त स्थित रहना कैसे होता है? उत्तर देते हैं कि निश्चित विपाक वाले अदृष्टजन्म में फल देने वाले कर्माशय का ही एक साथ अथवा तुरन्त मृत्यु उसकी अभिव्यक्ति का कारण कहा गया है। अनियतविपाक वाले, अदृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय की अभिव्यक्ति मरण से नहीं होती। जो अनियत विपाक वाला अदृष्टजन्म में फल देने वाला कर्माशय है वह या तो नष्ट अर्थात् दग्धबीजवत् होकर फलोन्मुख नहीं होता, या प्रधान कर्माशय के साथ अंकुरित भाव को प्राप्त होता है अथवा बीजरूप में चिरकाल तक पड़ा रहता है। और उस काल तक पड़ा रहता है जब तक कि कोई तत्काल प्रभाव वाला अथवा अविरूद्ध कर्म प्रकट करने वाले कारण को फलोन्मुख नहीं करता है।

प्रश्नः— नियतविपाक और अनियतविपाक कर्माशय तथा दृष्टजन्म और अदृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय का निर्धारण कैसे होगा ?

उत्तरः— यह तो ईश्वरीय ज्ञान में ही निर्धारित होता है। हम जीवों को ऐसी जानकारी मिलना सर्वथा असम्भव है। हम तो केवल कर्मफल के मोटे सिद्धान्तों को जान सकते हैं। परन्तु जो कर्मफल संबंधी सूक्ष्म ज्ञान तथा व्यवस्था है उसे तो केवल परमात्मा ही ठीक-ठीक जानता है अन्य कोई नहीं।

महर्षि व्यास ने भी कहा है कि कर्माशय के देश, काल और निमित्त के अनिश्चय से यह जो कर्मफल की पद्धति है वह विचित्र तथा बहुत कठिनाई से समझने योग्य है। अर्थात् कर्म-फल मीमांसा अति गहन विषय है। परन्तु जो सामान्य नियम है कि वर्तमान जन्म पूर्वजन्मों में सञ्चित कर्मों के आधार पर मिलता है यह निश्चित है। कर्माशय से जाति, आयु और भोग प्राप्त होंगे, यह निश्चित है परन्तु कब, कैसे और कहाँ, यह परमात्मा का विशेष ज्ञान होने से अज्ञात है।

वर्त्तमान जीवन में हम कर्म मीमांसा तथा कर्मफल मीमांसा को समझे बिना अपने कर्मों को सही दिशा या गति नहीं दे सकते। इसलिए भी कर्म मीमांसा तथा कर्मफल मीमांसा को जहाँ तक सम्भव हो समझना चाहिए जिससे हम अपने कर्माशय को धर्मानुकूल कर सके तथा जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर बढ़ सकें।

तो कर्माशय की तीन गतियाँ तो निश्चित है, जाति, आयु और भोग। जाति तो एक बार मिलने के बाद वर्त्तमान जीवन के लिए निश्चित हैं। अब हम आगे के दो अध्यायों में आयु तथा भोग के बारे में विचार करेंगे।